हिन्दी दलित विमर्श : आंदोलन की हक़ीक़त और सदियों का संताप

Prof (Dr) Manu
M.A(Hin). M.A(Eng), M.A(Urdu), PGDT,PGDPR, PGDTM, PGCMHT, PGCGPS, PGDACE, M.Phil, Ph.D
Professor & Former Head, Department of Hindi & Comparative Literature, Central University of Kerala, Kasargod
Dean, The School of Language & Literature, Kannur University Official Language Member of Ministry of Road Transport & Highways, Govt. of India New Delhi, & Ministry of Mines, Govt. of India, New Delhi.
doi.org/10.64643/IJIRTV12I11-196147-459

जिनके नसीब में सदियों से सिर्फ़ मलाल की धूल है और जिन्हें ज़माने ने पलकों से ओझल कर दिया है, उन मज़लूमों (शिकार) के बिखरे हुए दर्द को कागज़ पर समेटना ही मेरे फ़न असल कमाल है। वो जो बेबस हैं और जिनके हर ख़्वाब का मुसलसल शोषण होता रहता है—ये कोई मामूली बात नहीं बल्कि रूह को कँपा देने वाली एक हौलनाक (खतरनाक) हकीकत है—उनकी बेज़ुबान व दबी हुई चीखों को लफ़्ज़ों के पैरहन (लिबास) में ढालना ही मेरा असल मकसद है।
जिन्हें समाज ने हाशिये के पार धकेल कर पायमाल (कुचलना) कर दिया है, उनके हक़ की सतरें खींचना ही मेरे वजूद के सामने खड़ा सबसे बड़ा सवाल है।

रात की खामोशी में हमेशा एक गर्व की चिंगारी दिल में सुलगती है कि इन नंगे बदन और भूखी आँखों का जो गुरबत में बुरा हाल है, इनके वास्ते कलम की ज़ुबान खोलना ही मेरी इबादत का मुकम्मल साल है।
ज़ुल्म की इस सियाह रात में जहाँ हर शख़्स बेबसी से निढाल (थका हुआ) है, वहाँ इंसाफ़ की शम्अ रोशन करना ही इन शोषितों के हक़ में मेरा अव्वल फ़र्ज़ है। मिटा दिए गए जिनके निशां और हर पुरानी मिसाल है, उन्हें तारीख के सूखे सफहों पर लहू से उकेरना ही मेरे फ़न की असली ढाल है। हर पीड़ित की आह के भीतर जो एक खौलता हुआ उबाल है, उसे दुनिया के सामने बेनकाब करना ही मेरी तहरीर का ला-महदूद (दयारहीन/असीमित) मकसद है। दलितों, पीड़ितों, शोषितों के मामले में यह बताते हुए कुछ खींचना, उकेरना, लिखना मुझे बहत्तर लगता है ।

मेरे कलम की स्याही में उन बेज़ुबानों का लहू शामिल है
जिनकी सिसकियां महलों की दिवारों से टकराकर दम तोड़ देती हैं।
ज़ुल्म की दास्तां को कागज़ पर उकेरना महज फन नहीं,
बल्कि एक तारीखी एहतजाज (ऐतिहासिक विरोध) है।
इन नंगे पैरों और फटे लिबासों की हकीकत बयां करना
मुझे दुनिया की हर आशिकाना शायरी से बेहतर लगता है।
शोषितों की आहों को अलफाज़ देना दरअसल सोई हुई
इंसानियत को जगाने की एक मुकम्मल कोशिश है।
मेरी तहरीर (लेखन) उन दस्तकारों के नाम है,
जिनके हाथों में छाले तो हैं पर हक की लकीरें मिटा दी गई हैं।
पीड़ितों के हक में उठने वाली आवाज़ ही असल में वह रोशनी है,
जो अंधेरे मुकद्दर को बदलने का हौसला रखती है।
समाज के हाशिए पर खड़े इन इंसानों की तड़प को लफ्जों में ढालना,
मेरे वजूद की सबसे बड़ी सार्थकता है।
मैं उस मकतब (पाठशाला) का शायर हूँ,
जहाँ सिसकियों को हुरूफ़ और आंसुओं को उनवान दिया जाता है।
दलितों और पिछड़ों की जद्दोजहद को कलमबंद करना
मेरे लिए महज़ लिखना नहीं, बल्कि खुदा की बंदगी (सेवा/दुआ) के बराबर है।

इतिहास एक उत्सव नहीं,
बल्कि घावों की श्रृंखला है
तारीख़ कोई जश्न नहीं,
बल्कि ज़ख़्मों की एक मुसलसल ज़ंजीर है।" (लगातार चलने वाली कड़ी)
समय आगे बढ़ता है,
पर अन्याय की बनावट जस-की-तस रहती है
मतलब यह है कि वक़्त गुज़र जाता है,
मगर नाइंसाफ़ी की साख़्त वैसी की वैसी ही रहती है।
चुप्पी सबसे बड़ा हथियार नहीं,
बल्कि **सबसे बड़ा क़सूर** बन जाती है
दलित मेरे लिए कोई ज़ात नहीं
वो मेरे लिए एक कैफियत है ।

जब तक यह ख्याल दिल में न उगे तो दलित आंदोलन कहीं भी ठहर नहीं पाएगा । हिन्दी दलित साहित्य आज के दौर में महज़ एक अदबी (साहित्यिक) रुझान नहीं, बल्कि एक समाजी तहरीक (सामाजिक आंदोलन) की सूरत हासिल कर चुका है। इस तहरीक (प्रस्तावना/विचार) की बुनियाद सदियों की नाइंसाफ़ी, शोषण और तहक़ीर (अपमान) पर रखी गई है। मगर कुछ अदीब (लेखक) और शायर इस उभरती हुई तहरीक को मुख़्तलिफ़ अंदाज़ में देखते हैं। लेखक-शायर मनु का ख़याल है कि दलितों का हो और किसी का भी हो उनका आंदोलन कभी 'कुकुरमुत्ते का आंदोलन' नहीं होना चाहिए,

"हमें कभी न चाहिए
कुकुरमुत्ते का आंदोलन
हमें चाहिए
'भूख का न तो झींगुर का आंदोलन,
वहाँ कहाँ है समझौता ?"

दलित आंदोलन की जड़ें बहुत गहरी हैं। यह कोई अचानक पैदा हुआ बेचैनी नहीं, बल्कि सदियों की जमी हुई बेदिली और महरूमी (वंचना) का नतीजा है। अगर इसे "झींगुर का आंदोलन" कहा जाए—यानी ऐसा शोर जो असरअंदाज़ (प्रभावी) न हो—तो यह हक़ीक़त से आँख चुराने के बराबर है। झींगुर की आवाज़ भले ही हल्की हो, मगर वह लगातार सुनाई देती है; और यही दृढ़ता किसी भी तहरीक की जान होती है।

यह जुमला दरअसल एक गहरी सामाजिक और अदबी तन्क़ीद अपने अंदर समेटे हुए है। "कुकुरमूते का आंदोलन" से मुराद ऐसे आंदोलनों से है जो बरसात में उग आने वाले कुकुरमूते की तरह अचानक पैदा हो जाते हैं, मगर उनकी जड़ें न तो जमीन में गहरी होती हैं और न ही उनका मक़सद वाज़ेह (साफ़) होता है। ऐसे आंदोलन शोर तो बहुत करते हैं, मगर समाज की बुनियादी समस्याओं को छू भी नहीं पाते।

जब कहा जाता है कि "दलितों का आंदोलन भूख का, झींगुर का आंदोलन होना चाहिए", तो यहाँ तवज्जो (ध्यान/गौर) असल मसले की तरफ दिलाई जा रही है। दलित तबक़ा सदियों से सामाजिक नाइंसाफ़ी, तफ़रीक़ (भेदभव) और मज़लूमियत (अत्याचार, ज़ुल्म या नाइंसाफ़ी का शिकार होने की हालत) का शिकार रहा है। मगर सिर्फ पहचान की सियासत तक महदूद रह जाना काफी नहीं। असल जद्दोजहद तो भूख के खिलाफ होनी चाहिए—उस भूख के खिलाफ जो इंसान की इज़्ज़त, उसकी सोच और उसके ख्वाब तक निगल जाती है।

'झींगुर का आंदोलन' एक बेहद ख़ूबसूरत नारा है। झींगुर की आवाज़ हल्की होती है, मगर वह लगातार गूंजती रहती है। यानी असली तहरीक वह है जो खामोशी से, मगर मुसलसल जारी रहे; जो दिखावे की बजाय असर पैदा करे। यह इशारा उस जद्दोजहद की तरफ है जो नीचे से उठे, आम आदमी की तकलीफ को बयान करे और समाज की बुनियाद हिला दे।

अगर हम भीमराव आंबेडकर की तहरीक को देखें, तो वह महज़ एक तबके की सियासत नहीं थी, बल्कि इंसानी बराबरी और इन्साफ़ की जंग थी। उसी तरह अदब में मुनशी प्रेमचंद ने भूख, ग़रीबी और मज़लूमियत को अपनी दस्तानों का मरकज़ बनाया।

'कुकुरमूते' (बरसात में उगने वाला क्षणिक फफूँद) की तरह उग आने वाले आंदोलन अक्सर शोर तो बहुत करते हैं, मगर उनकी जड़ें ख़ाक (मिट्टी) में गहरी नहीं होतीं। इसके बरअक्स (विपरीत) झींगुर की सदा (आवाज़) एहतिजाज (विरोध) की वह लगातार आहट है जो तारीकी (अँधेरा) के सीने में सुराख़ करती रहती है। वह किसी समझौते या मसलेहत (स्वार्थपूर्ण नीति) को क़ुबूल नहीं करता, क्योंकि उसकी रूह आज़ादी से आबाद है। असल आंदोलन वही है जो भूख, जिल्लत (अपमान) और नाइंसाफ़ी (अन्याय) के खिलाफ़ उठे; जो इंक़लाब (क्रांति) की लौ को महज़ नारों में नहीं, बल्कि किरदार में तराशे। जब तक सहर (सुबह) का उजाला अफ़क़ (क्षितिज) पर नुमायां (प्रकट) न हो, झींगुर की पुकार थमती नहीं—वह याद दिलाती है कि इंक़लाब कुकुरमूते की तरह उगने का नाम नहीं, बल्कि सदियों की तपिश में ढलकर फ़ौलाद (इस्पात) बनने का नाम है।

लेखक की अपनी नसरी ग़ज़ल देखें

कुकुरमूते की तरह उगता जो शोहरत का हल्का सा जज़्बा है, वो ठहरता नहीं मानता,
झींगुर जब इंक़लाब की आवाज़ बन जाए तो कोई समझौता नहीं मानता।

वो भूख की जलती आग में सच से मुँह मोड़ता नहीं मानता,
अँधेरे से फ़ायदे की ख़ातिर कोई समझौता नहीं मानता।

जो वीराने में भी अपनी आवाज़ दबता नहीं मानता,
वो भूख का जगा हुआ जज़्बा है, झुकता नहीं मानता।

सुबह तक दिल में उम्मीद की शम्अ बुझता नहीं मानता,
वो झींगुर है, अँधेरे से कोई समझौता नहीं मानता।

'सदियों का संताप' वाल्मीकि की नज़मों का संग्रह है ।

यह सिर्फ़ नज़मों का संग्रह नहीं,
बल्कि दलित जीवन की सामूहिक कैफियत है।
इसमें पीड़ा किसी एक व्यक्ति की नहीं,
बल्कि पीढ़ियों की है—
वह पीड़ा जो जन्म के साथ विरासत में मिलती है।

ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में—
सदियों का संताप पढ़ते हुए पाठक यह नहीं पूछ सकता कि
"यह पीड़ा कितनी पुरानी है?"
बल्कि उसे पूछना पड़ता है—
"यह अब तक ख़त्म क्यों नहीं हुई?" यहाँ दर्द घोषणा नहीं, इक़रार/ सहमति बन जाता है।

प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआं' नामक कहानी लिखी है और ओम प्रकाश वाल्मीकि ने 'ठाकुर का कुआं' नामक कविता लिखी है, दोनों बहुचर्चित एवं मशहूर भी है ।

"ठाकुर का कुआँ" कविता में कुआं केवल पानी का कुआँ नहीं, बल्कि उस सत्ता और ताकत का प्रतीक है जो समाज में कुछ लोगों को दूसरों पर हक़ जमाने देता है । इस कविता में कवि ने यह दिखाया है कि दलित के लिए बुनियादी ज़रूरतें भी अक्सर वर्जित होती हैं। पानी भरना, जीने का अधिकार, तक़रीबन हर चीज़ पर रोक लग जाती है। लेकिन यह रोक केवल शारीरिक नहीं, बल्कि मानसिक और सामाजिक है। दलित को इंसान के तौर पर नहीं, बल्कि अछूत समझा जाता है।

कविता में मौन आक्रोश है। यह शोर नहीं, चीख नहीं, बल्कि लगातार उठती हुई आवाज़ है—एक चेतना जो कहती है कि अन्याय और भेदभाव सहन नहीं किए जा सकते। यह कविता करुणा की पुकार नहीं, बल्कि प्रतिरोध की पुकार है। यह हमें यह याद दिलाती है कि असली विद्रोह वह है जो रोज़मर्रा के छोटे-छोटे अन्याय के खिलाफ खड़ा होता है, जो चुप नहीं बैठता।

कवि ने यह भी दिखाया है कि 'कुआँ' केवल पानी देने वाला स्रोत नहीं है, यह उस सामाजिक ढांचे का आईना है जिसमें दलित हमेशा पिछड़े, असहाय और अनदेखा किए जाते हैं। लेकिन इसी आईने में एक संदेश भी छुपा है: मौन के भीतर भी आवाज़ है, और यह आवाज़ समय आने पर बदलाव लाने की ताकत रखती है।

इस कविता में बहाव इस तरह है कि पाठक को केवल पीड़ा का एहसास नहीं होता, बल्कि लड़ाई और हिम्मत का भी एहसास होता है। यह कविता हमें सिखाती है कि समाज की अन्यायपूर्ण दीवारों को तोड़ने के लिए केवल दिखावा या नारों की ज़रूरत नहीं, बल्कि रोज़मर्रा के भेदभाव और असमानता के खिलाफ लगातार जागरूक रहना और प्रतिरोध करना जरूरी है।

संक्षेप में, ''ठाकुर का कुआँ'' दलितों की पीड़ा, उनकी रोज़मर्रा की लड़ाई और सामाजिक अन्याय के खिलाफ़ उठती चेतना का सशक्त चित्र है। यह हमें यह याद दिलाती है कि असली बदलाव वही है जो भीतर से उठे, मौन को आवाज़ में बदल दे, और समाज की गलत जड़ें हिला दे।

भारतीय समाज की संरचना में जाति व्यवस्था का इतिहास बहुत पुराना है। इस व्यवस्था ने समाज को कई स्तरों में विभाजित किया और कुछ समुदायों को सामाजिक सम्मान, शिक्षा और अवसरों से वंचित रखा। आधुनिक हिन्दी साहित्य में जब इस असमानता के विरुद्ध आवाज़ उठनी शुरू हुई तो दलित साहित्य एक महत्वपूर्ण साहित्यिक आंदोलन के रूप में सामने आया। इस आंदोलन ने उन लोगों के अनुभवों को साहित्य में स्थान दिया जिन्हें सदियों तक समाज के हाशिये पर रखा गया था। इसी आंदोलन में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। उनकी रचनाएँ भारतीय समाज में मौजूद जातिगत अन्याय की गहरी आलोचना करती हैं और दलित समाज के अनुभवों को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती हैं। उनका काव्य-संग्रह सदियों का संताप इस दृष्टि से विशेष महत्व रखता है क्योंकि इसमें दलित जीवन की पीड़ा, अपमान और संघर्ष का अत्यंत मार्मिक चित्रण मिलता है। यह संग्रह केवल कविताओं का संकलन नहीं बल्कि एक सामाजिक दस्तावेज़ है जिसमें दलित समुदाय की सामूहिक स्मृति और ऐतिहासिक अनुभव दर्ज हैं। वाल्मीकि की कविता में जो कैफ़ियत (भावनात्मक स्थिति) और शिद्दत (तीव्रता) दिखाई देती है वह उनके व्यक्तिगत जीवन अनुभवों और सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न होती है।

''सदियों का संताप'' की कविताओं में सबसे पहले जो बात ध्यान आकर्षित करती है वह है दलित समाज की पीड़ा का सीधा और स्पष्ट चित्रण। वाल्मीकि अपनी कविता में किसी प्रकार की अलंकारिकता या सजावटी भाषा का सहारा नहीं लेते बल्कि वास्तविक जीवन के अनुभवों को सीधे शब्दों में व्यक्त करते हैं। उनकी एक कविता में दलित जीवन की स्थिति का संकेत देते हुए एक पंक्ति आती है:''सदियों का संताप मेरे शब्दों में उतर आया है।''[1]यह पंक्ति केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं बल्कि ऐतिहासिक अनुभव का प्रतीक है। यहाँ ''संताप'' केवल व्यक्तिगत दुख नहीं बल्कि सदियों से चले आ रहे सामाजिक अपमान और शोषण का प्रतीक बन जाता है। वाल्मीकि की कविता इस पीड़ा को केवल वर्णित नहीं करती बल्कि उसे सामाजिक विमर्श का विषय भी बनाती है। इस तरह कविता इतिहास और समाज के बीच संवाद का माध्यम बन जाती है। कवि का उद्देश्य केवल दुख व्यक्त करना नहीं बल्कि उस दुख के सामाजिक कारणों की ओर ध्यान आकर्षित करना भी है।

इस काव्य-संग्रह की कविताओं में दलित चेतना का स्वर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वाल्मीकि बताते हैं कि दलित समाज ने लंबे समय तक अन्याय सहा, लेकिन अब वह अपनी स्थिति को समझने लगा है और अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठा रहा है। एक स्थान पर कवि लिखते हैं:''हमारी खामोशी भी अब सवाल बनकर उठ रही है।''[2]इस पंक्ति में एक गहरी सामाजिक चेतना दिखाई देती है। यहाँ खामोशी केवल मौन नहीं बल्कि दबी हुई पीड़ा का प्रतीक है जो धीरे-धीरे प्रतिरोध में बदल रही है। वाल्मीकि की कविता यह दिखाती है कि दलित समाज केवल पीड़ित नहीं है बल्कि परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार भी है। उनकी कविता में आत्मसम्मान और संघर्ष की भावना बार-बार दिखाई देती है।

''सदियों का संताप'' में सामाजिक यथार्थ का चित्रण अत्यंत प्रभावशाली ढंग से किया गया है। वाल्मीकि दलित जीवन के दैनिक अनुभवों के माध्यम से समाज की बड़ी संरचनात्मक समस्याओं को उजागर करते हैं। उनकी कविताओं में गाँव, विद्यालय, सामाजिक व्यवहार और श्रम से जुड़े कई दृश्य दिखाई देते हैं। इन दृश्यों के माध्यम से कवि यह दिखाते हैं कि जातिगत भेदभाव केवल एक विचार नहीं बल्कि रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा बन चुका है। एक कविता में वह लिखते हैं:''हमारी पहचान हमारी मेहनत नहीं, हमारी जाति बन गई।''[3]यह पंक्ति भारतीय समाज की उस विडंबना को उजागर करती है जहाँ व्यक्ति की पहचान उसके कार्य या व्यक्तित्व से नहीं बल्कि उसकी जाति से निर्धारित की जाती है। वाल्मीकि की कविता इस व्यवस्था की तीखी आलोचना करती है और पाठक को यह सोचने के लिए मजबूर करती है कि सामाजिक समानता क्यों आवश्यक है।

इस संग्रह में प्रतिरोध की भावना भी महत्वपूर्ण है। वाल्मीकि की कविता केवल दुख और करुणा का चित्रण नहीं करती बल्कि अन्याय के विरुद्ध संघर्ष का संदेश भी देती है। एक कविता में कवि लिखते हैं:''अब और नहीं सहेंगे यह अपमान।''[4]यह पंक्ति दलित समाज की बदलती मानसिकता को दर्शाती है। यहाँ प्रतिरोध का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। वाल्मीकि की कविता यह दिखाती है कि सामाजिक परिवर्तन तभी संभव है जब पीड़ित वर्ग अपनी स्थिति को समझकर उसके विरुद्ध संघर्ष करे।

वाल्मीकि की भाषा और शैली भी इस काव्य-संग्रह की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उनकी भाषा अत्यंत सरल और प्रभावशाली है। वह कठिन अलंकारों या जटिल वाक्य संरचनाओं का प्रयोग नहीं करते। उनकी कविता में एक प्रकार की रवानी (प्राकृतिक बहाव) दिखाई देती है जो पाठक को सीधे प्रभावित करती है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ केवल साहित्यिक जगत तक सीमित नहीं रहतीं बल्कि सामान्य पाठकों तक भी पहुँचती हैं। कई आलोचकों का मानना है कि वाल्मीकि की कविता में नसरी बहाव (गद्यात्मक प्रवाह) दिखाई देता है, जो विचारों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में सहायक होता है।

इस काव्य-संग्रह का एक और महत्वपूर्ण पहलू इसका आत्मकथात्मक स्वर है। वाल्मीकि के व्यक्तिगत अनुभव उनकी कविताओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। उनके जीवन के संघर्ष और अपमान के अनुभव उनकी प्रसिद्ध आत्मकथा जूठन में भी वर्णित हैं। इन्हीं अनुभवों का प्रभाव उनकी कविताओं में भी दिखाई देता है। एक कविता में वह लिखते हैं:''मेरे शब्द मेरे जीवन के अनुभवों से जन्मे हैं।''[5]यह पंक्ति यह स्पष्ट करती है कि उनकी कविता केवल कल्पना का परिणाम नहीं बल्कि वास्तविक जीवन के अनुभवों पर आधारित है।

आख़िर में यह कहा जा सकता है कि 'सदियों का संताप' हिंदी दलित अदब (साहित्य) की एक बहुत ही ख़ास और अहम रचना है। इस शायरी के मजमुए (संग्रह) ने हिंदी कविता को एक नया नज़रिया दिया है और समाज में फैली जात-पात की ऊंच-नीच को बेनकाब किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की शायरी में दर्द, विरोध और उम्मीद—ये तीनों रंग साफ़ नज़र आते हैं। उनकी तहरीरें (रचनाएँ) पढ़ने वालों को यह सोचने पर मजबूर करती हैं कि सामाजिक इंसाफ और बराबरी के बिना असली तरक्की मुमकिन नहीं है। यही वजह है कि हिंदी अदब की दुनिया में 'सदियों का संताप' का मुकाम हमेशा कायम और बेहद ऊंचा रहेगा।

Footnotes (उद्धरण नंबर)

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, *सदियों का संताप*, वाणी प्रकाशन, पृ. 14
2. वही, पृ. 27
3. वही, पृ. 36
4. वही, पृ. 41
5. वही, पृ. 52